

August 2020

Bulletin of Sri Aurobindo
International Centre of Education

श्रीअरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा-केन्द्र पत्रिका

(हिन्दी-विभाग)

अगस्त २०२०



श्रीअरविन्द आश्रम
पॉण्डिचेरी, भारत

बुलेटिन अगस्त २०२०

विषय-सूची

एक विद्यार्थिनी के नाम पत्र	‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड १६ से ३
भारत का स्वधर्म	श्रीअरविन्द १२
देश-भक्ति की भावनाएँ	श्रीमाँ १३
श्रीअरविन्द अपने विषय में	१४
१९७२ के दो वार्तालाप	‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड ११ से १७
श्रीअरविन्द के उत्तर (७७)	२२

एक विद्यार्थिनी के नाम पत्र

श्रीअरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा-केन्द्र की एक विद्यार्थिनी के नाम पत्र जिसने माताजी को सोलह वर्ष की उम्र में पत्र लिखना शुरू किया था।

मधुर माँ,

हमें भिखारियों को पैसे देने चाहियें या नहीं?

सुसंगठित समाज में भिखारी होने ही नहीं चाहियें।

लेकिन जब तक वे हैं, तुम्हें जो ठीक लगे वही करो।

देने और न देने दोनों के लिए काफ़ी अच्छे कारण हैं।

आशीर्वाद।

८ जुलाई १९६९

ऐसा कोई भी नहीं है जिसके लिए भगवान् को पाना असम्भव हो।

कुछ लोगों के लिए बहुत-बहुत जन्म लग जायेंगे जब कि ऐसे लोग भी हैं जो इसी जन्म में उन्हें पा लेंगे। यह संकल्प का प्रश्न है। स्वयं तुम्हें चुनाव करना होगा।

लेकिन मैं इतना ज़रूर कहूँगी कि वर्तमान समय में परिस्थितियाँ विशेष रूप से अनुकूल हैं।

आशीर्वाद।

२२ जुलाई १९६९

मधुर माँ,

सचमुच “भगवान् को पाने” का क्या अर्थ है?

इसका अर्थ है अपने अन्दर या आध्यात्मिक शिखरों पर भगवान् के बारे में सचेतन होना और एक बार तुम उनकी उपस्थिति के बारे में सचेतन हो जाओ तो अपने-आपको पूरी तरह उनके अर्पित कर देना ताकि उनकी इच्छा से भिन्न तुम्हारे अन्दर कोई इच्छा न रहे और अन्त में अपनी चेतना को उनकी चेतना के साथ एक कर देना। यह है “भगवान् को पाना”।

आशीर्वाद।

२३ जुलाई १९६९

मधुर माँ,

जब हम सोते हैं तो हमारी चेतना बाहर चली जाती है, है न? लेकिन मैं औरों के स्वप्न में दिखायी देती हूँ। तो होता क्या है? क्या चेतना अपने भाग कर लेती

है या औरों के स्वप्न केवल उनकी अपनी कल्पनाएँ होते हैं?

बहुधा प्राणिक चेतना ही शरीर में से बाहर जाती है और वही मनुष्य के शरीर के आकार और रूप-रंग का आभास रखती है। अगर कोई किसी और के बारे में स्वप्न देखता है तो इसका मतलब यह होता है कि दोनों रात को मिले थे और बहुत सम्भव है कि प्राणमय जगत् में मिले हों, लेकिन यह कहीं और भी, सूक्ष्म शरीर में या मन में भी हो सकता है। स्वप्नों में बहुत प्रकार की सम्भावनाएँ हैं।

आशीर्वाद।

१ अगस्त १९६९

मधुर माँ,

रात सूर्योदय से ठीक पहले अधिक-से-अधिक अँधेरी क्यों होती है? वैज्ञानिक और आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों से?

क्योंकि अँधेरा प्रकाश को आने से रोकने की कोशिश करता है।

आशीर्वाद।

११ अगस्त १९६९

मधुर माँ,

सोने के लिए आधी रात से पहले का समय उसके बाद के समय की अपेक्षा ज्यादा अच्छा क्यों होता है?

क्योंकि प्रतीक रूप से, आधी रात से पहले के घण्टों में सूर्यास्त हो रहा होता है जब कि आधी रात के बाद के पहले घण्टे से ही उसका उदय शुरू हो जाता है।

आशीर्वाद।

२२ अगस्त १९६९

प्रेम केवल एक है, 'भागवत प्रेम', शाश्वत, वैश्व, सब मनुष्यों और सभी वस्तुओं के लिए एकसमान।

मनुष्य ही (मानव सत्ता) सब प्रकार के भावों को, सभी कामनाओं, आकर्षणों, प्राणिक लेन-देन, कामुक सम्बन्धों, आसक्तियों, मित्रताओं और अन्य बहुत-सी चीजों को "प्रेम" कहता है।

लेकिन ये सब प्रेम की छाया तक नहीं हैं, उसके विकृत रूप तक नहीं हैं।

ये सब मानसिक, प्राणिक, भावुकतामय या कामुक क्रिया-कलाप हैं, उससे बढ़ कर कुछ

नहीं !

आशीर्वाद ।

६ सितम्बर १९६९

मधुर माँ,

कामना और अभीप्सा में, स्वार्थ और आत्म-सिद्धि में क्या फ़र्क है?

कामना प्राणिक गति है, जब कि अभीप्सा चैत्य गति है ।

अगर व्यक्ति को सच्ची, निःस्वार्थ और निष्कपट अभीप्सा का अनुभव हो जाये तो वह कोई प्रश्न पूछ ही नहीं सकता क्योंकि अभीप्सा का स्पन्दन प्रदीप्त और अचञ्चल होता है, उसका कामना के स्पन्दन के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता जो आवेशभरा, अन्धकारभरा और बहुधा उग्र होता है ।

स्वार्थ का अर्थ है सब कुछ अपने लिए चाहना, अपने सिवाय और कुछ न समझना । औरों की उसी हद तक परवाह करना जिस हद तक वे तुम्हारे लिए ज़रूरी या महत्त्वपूर्ण हों । फ्रेंच में आत्म-सिद्धि का अर्थ होता है अपनी सत्ता के अन्दर भागवत केन्द्र को पाना । अंग्रेज़ी में साधारणतः आत्म-परिपूर्ति का अर्थ होता है “सफल होना” । श्रीअरविन्द अपने लेखों में “आत्म-सिद्धि” का उपयोग करते हैं आत्मा को पाने या सिद्ध करने के अर्थ में, यानी अपने अन्दर भगवान् के बारे में सचेतन होना और उनके साथ एक हो जाना ।

आशीर्वाद ।

१४ सितम्बर १९६९

मधुर माँ,

हम अपनी सत्ता को एक कैसे कर सकते हैं?

पहला चरण है, अपने अन्दर गहराई में कामनाओं और आवेशों के पीछे एक ज्योतिर्मयी चेतना को पाना जो हमेशा उपस्थित रहती और भौतिक सत्ता को अभिव्यक्त करती है ।

साधारणतः लोग इस चेतना की उपस्थिति के बारे में केवल तभी अभिज्ञ होते हैं जब वे किसी संकट के आमने-सामने हों या उनका किसी अप्रत्याशित घटना या बड़े दुःख से पाला पड़ा हो ।

तब तुम्हें उसके साथ सचेतन सम्पर्क में आना और जब मरज़ी हो तब यह कर सकना सीखना चाहिये । बाक़ी सब पीछे-पीछे आ जायेगा ।

साधारणतः व्यक्ति इस ज्योतिर्मयी उपस्थिति को सौर चक्र के पीछे हृदय में पाता है ।

आशीर्वाद ।

२० सितम्बर १९६९

मधुर माँ,

प्राण को किसी अच्छी चीज़ में बदलने का क्या परिणाम होगा, दूसरे शब्दों में कहें तो क्या परिवर्तन होगा?

प्राण सभी बुरे आवेगों, समस्त दुष्टताओं, भीरुता, दुर्बलता और धन-लोलुपता का आधान है।

जब प्राण परिवर्तित हो जाता है तो आवेश बुरे होने की जगह अच्छे हो जाते हैं; दुष्टता भलाई में बदल जाती है और धन-लोलुपता की जगह ले लेती है उदारता; दुर्बलता गायब हो जाती है, बल और सहनशक्ति उसका स्थान ले लेते हैं और भीरुता के स्थान पर साहस और ऊर्जा आ जाते हैं।

कर्म में शक्ति का निवास-स्थान है शुद्ध प्राण।

आशीर्वाद।

२० अक्तूबर १९६९

मधुर माँ,

मैंने अपने साथियों और मित्रों के साथ कभी इस विषय पर बातचीत नहीं की कि हम यहाँ धरती पर किसलिए हैं, परन्तु मैंने इस विषय में सोचा है और मुझे जो एकमात्र उत्तर मिला, वह यह है कि कम-से-कम हम यहाँ आश्रम में तो भगवान् को धरती पर प्रकट करने के लिए हैं। लेकिन एक प्रश्न बना रहता है, अगर सब कुछ भगवान् है, यहाँ तक कि विरोधी शक्तियाँ भी भगवान् हैं और अगर भगवान् ने ही सब कुछ रचा है और वे सब कुछ कर सकते हैं तो फिर वे इतना अधिक समय क्यों लगाते हैं और ऐसे पेचीदे रास्ते क्यों अपनाते हैं? उन्हें निश्चेतन चीज़ें बना कर फिर से उन्हें सचेतन बनाने में क्या मज़ा आता है? और ये सब दुर्भाग्य और दुःख-कष्ट क्यों हैं?

यह ऐसा प्रश्न है जिसे सभी चिन्तनशील मनुष्यों ने पूछा है।

कुछ लोगों ने समस्या को ज़्यादा गहराई में सोचा और अपने-आपसे पूछा है कि क्या मनुष्य, जो इतने छोटे और सीमित हैं, वे चीज़ों को उस रूप में देख सकते हैं जैसी वे सचमुच हैं; और ज़्यादा अच्छी तरह समझ सकने की आशा में उन्होंने दिव्य दृष्टि की खोज की है, एक सार्वभौम और सच्ची दृष्टि की, जो योग का परिणाम होती है। और जिन्हें अपने प्रयास में सफलता मिली है उन्होंने देखा है कि जब हम भगवान् के साथ एक हो जाते हैं तो वस्तुओं के बारे में हमारी दृष्टि बिलकुल बदल जाती है और वे सब एक ही निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि भगवान् के साथ एक हो जाओ, तब तुम समझोगे। आशीर्वाद।

२८ अक्तूबर १९६९

मधुर माँ,

कहीं और जाने से आदमी अपने आध्यात्मिक लाभ क्यों और कैसे खो बैठता है? व्यक्ति सचेतन प्रयास कर सकता है और आपका संरक्षण तो हमेशा रहता ही है, है न?

अपने माता-पिता के यहाँ जाने का अर्थ होता है उस प्रभाव की ओर लौटना जो ज़्यादा प्रबल होता है; और ऐसे उदाहरण बहुत कम हैं जहाँ माता-पिता तुम्हारी आध्यात्मिक प्रगति करने में सहायक होते हैं, क्योंकि वे सामान्यतः सांसारिक प्राप्ति में अधिक रस लेते हैं।

जिन माता-पिता को मूलतः आध्यात्मिक उपलब्धि में रस होता है वे अपने बच्चों को अपने पास नहीं बुलाते।

आशीर्वाद।

८ नवम्बर १९६९

मधुर माँ,

हमें खेल-कूद की प्रतियोगिताओं या प्रदर्शनों में क्यों भाग लेना चाहिये?

क्योंकि इससे अधिक प्रयास करने और इस तरह ज़्यादा तेज़ प्रगति करने का अवसर मिलता है।

१६ नवम्बर १९६९

मधुर माँ,

मैं अपनी सत्ता को एक करने की दिशा में लिये जाने वाले दूसरे चरण के बारे में जानना चाहूँगी। आपने मुझे पहले चरण के बारे में बतलाया था।

सत्ता को एक करने के काम में ये चीज़ें आती हैं :

१. अपनी चैत्य सत्ता के बारे में अभिज्ञ होना।

२. जैसे-जैसे तुम अपनी समस्त गतिविधियों, आवेशों, विचारों और इच्छा की क्रियाओं के बारे में अभिज्ञ होती जाओ, वैसे-वैसे उन्हें चैत्य सत्ता के आगे रख दो ताकि वह इन गतिविधियों, आवेशों, विचारों और इच्छा की क्रियाओं में से जिन्हें चाहे स्वीकार या अस्वीकार करे। जिन्हें स्वीकार कर लिया जायेगा उन्हें रखा और क्रियान्वित किया जायेगा और जिन्हें अस्वीकार किया जायेगा उन्हें चेतना से भगा दिया जायेगा ताकि वे कभी वापस न आ पायें।

यह एक लम्बा और अति सावधानी से करने-लायक काम है और इसे समुचित ढंग से करने में बरसों लग सकते हैं। आशीर्वाद।

८ दिसम्बर १९६९

मधुर माँ,

हमें दर्शन के दिन, ५ दिसम्बर, ९ दिसम्बर और अपना जन्मदिन कैसे मनाना चाहिये?

सामान्य ज्ञान की अपेक्षा अधिक सत्य ज्ञान की खोज में।

५ और ९ यह समझने में कि मृत्यु क्या है।

जन्मदिन जीवन के प्रयोजन का पता लगाने में।

आशीर्वाद।

१३ दिसम्बर १९६९

(आश्रम के क्रीड़ांगण में दुर्घटनाओं के बारे में)

मुझे नहीं लगता कि कहीं और की अपेक्षा यहाँ ज़्यादा दुर्घटनाएँ होती हैं। निश्चय ही यहाँ कम होनी चाहियें परन्तु उसके लिए यहाँ पढ़ने वाले बच्चों को चेतना में विकसित होने के लिए प्रयास करना चाहिये (यह ऐसी चीज़ है जो और कहीं की अपेक्षा यहाँ ज़्यादा आसानी से की जा सकती है)। दुर्भाग्यवश ऐसे कम ही हैं जो इसे करने का कष्ट उठाते हैं। इस तरह उन्हें यहाँ पर जो सुन्दर अवसर दिया गया है उसे वे खो बैठते हैं।

२२ दिसम्बर १९६९

मधुर माँ,

जिन लोगों ने अपनी चेतना को विकसित कर लिया है उनमें और जिन्होंने नहीं किया उनमें क्या फ़र्क है?

जिन्होंने कर लिया है, और उसे अच्छी तरह किया है, वे सचेतन हो जाते हैं और बाक़ी मानवजाति के विशाल बहुमत की भाँति अर्द्ध-चेतन रहते हैं।

चेतना, सत्य चेतना व्यक्ति के निजी स्वभाव पर और बड़ी हद तक घटनाओं पर, स्वामित्व पाने का अधिकार देती है।

२३ दिसम्बर १९६९

मधुर माँ,

आपके ख़याल से क्या आधी रात का अनुष्ठान देखने के लिए गिरजाघर जाना अच्छा है?

गिरजाघर क्यों जाओ? क्या तुम ईसाई हो या ईसाई होना चाहती हो?

श्रीअरविन्द ने अपना सारा जीवन मनुष्यों को धर्मों के बन्धन से छुड़ाने में लगाया। क्या तुम एक बचकानी, निरर्थक उत्सुकता के लिए उनके काम का विरोध करना चाहती हो?

अभी तक जितने भी गये हैं, बिना आज्ञा लिये गये हैं क्योंकि उन्हें एहसास था कि आज्ञा नहीं मिलेगी।

२५ दिसम्बर १९६९

मधुर माँ,

‘भागवत मुहूर्त’ में श्रीअरविन्द कहते हैं, “ऐसे मुहूर्त आते हैं जब आत्मा मनुष्यों के बीच विचरण करती है और प्रभु का श्वास हमारी सत्ता के जलों पर फैला रहता है। और ऐसे मुहूर्त भी होते हैं जब वह पीछे हट जाती है और मनुष्यों को अपने ही अहं के बल या दुर्बलता के भरसे काम करने के लिए छोड़ दिया जाता है।” और अपने एक पत्र में आपने कहा है कि हमें अपने अहं पर नहीं बल्कि चैत्य पर आश्रित रहना चाहिये। माँ, क्या आप मुझे यह समझा सकेंगी?

बात ऐसी है कि हम ऐसे काल में नहीं हैं जब मनुष्य अपने ही बल-बूते पर छोड़ दिये जायें। भगवान् ने अपनी चेतना को उन्हें प्रकाश देने के लिए नीचे भेजा है और जो भी उससे लाभ उठा सकते हैं उन्हें उससे लाभ उठाना चाहिये। आशीर्वाद।

२९ दिसम्बर १९६९

मधुर माँ,

आपने कल जो कहा था उसके बारे में: क्या भगवान् ने अपनी चेतना नीचे ज़मीन पर नहीं भेजी थी? लेकिन सारी सृष्टि में भगवान् शुरू से थे, ठीक है न?

हाँ।

तो फिर आदिम मानव अपने ही साधनों पर क्यों छोड़ दिये गये?

आदिम मानव पशु के इतने अधिक निकट थे कि वे आन्तरिक भगवान् के साथ नाता जोड़ने के योग्य न थे। धीरे-धीरे, हजारों वर्षों के आरोहणकारी विकास द्वारा मनुष्यों ने सचेतन होना सीखा है। अब वे कहीं अधिक ऊँची ऐसी चेतना को प्रकट करने में समर्थ हैं जो पूरी तरह अतिमानव में कार्य करेगी; इसीलिए यह चेतना नीचे धरती पर उतरी है ताकि उन सबमें कार्य कर सके जो उसे ग्रहण करने के लिए तैयार हैं। आशीर्वाद।

३० दिसम्बर १९६९

मधुर माँ,

“जगत् एक महान् परिवर्तन के लिए तैयारी कर रहा है। क्या तुम सहायता करोगे?” (माताजी का १९७० का नये साल का सन्देश।)

यह महान् परिवर्तन क्या है जिसकी आप बात कर रही हैं और हम उसमें कैसे सहायता कर सकते हैं?

यह महान् परिवर्तन है धरती पर एक ऐसी नयी जाति की अभिव्यक्ति, जो मनुष्य की तुलना में ऐसी ही होगी जैसा मनुष्य पशु की तुलना में है। इस नयी जाति की चेतना धरती पर कार्यरत हो चुकी है—उन सबको प्रकाश देने के लिए जो उसे ग्रहण करने और उसकी ओर ध्यान देने-योग्य हैं।

आशीर्वाद।

२ जनवरी १९७०

मधुर माँ,

मृत्यु के समाचार को कैसे लिया जाये, विशेषकर जब मृत व्यक्ति हमारा निकटस्थ हो?

परम प्रभु से कहो, “तेरी इच्छा पूर्ण हो” और जितना हो सके उतने शान्त रहो।

अगर बिछुड़ा हुआ व्यक्ति तुम्हें प्यारा हो तो तुम्हें उस पर अपने प्रेम को शान्ति और स्थिरता में एकाग्र करना चाहिये क्योंकि यही चीज़ दिवंगत व्यक्ति को सबसे अधिक सहायता दे सकती है।

आशीर्वाद।

१६ जनवरी १९७०

मधुर माँ,

हमें फ़िल्में कैसे देखनी चाहियें? अगर हम पात्रों के साथ एकात्म हो जायें तो अगर फ़िल्म दुःखभरी है या सनसनीखेज़ है तो हम उसमें इतने डूब जाते हैं कि हम रोने लगते हैं या डर जाते हैं। और अगर हम उससे अछूते रहें तो हम उसे पूरी तरह सराह नहीं सकते। तो हमें क्या करना चाहिये?

प्राण ही उससे विचलित और विगलित होता है।

अगर तुम मानसिक रूप से देखो तो वही रस नहीं आता; विचलित हुए या दुःख पाये बिना तुम शान्त भाव से फ़िल्म के मूल्य को परख सकते हो, देख सकते हो कि क्या फ़िल्म

अच्छी बनी है, उसमें अभिनय अच्छा है या उसके दृश्यों में कलात्मक मूल्य है। पहली स्थिति में तुम “अच्छे दर्शक” होते हो, दूसरी हालत में तुम अधिक शान्त रहते हो। आशीर्वाद।

३० जनवरी १९७०

मधुर माँ,

अगर हम अखबार न पढ़ें तो हमें यह कैसे पता लगेगा कि अन्य देशों में या स्वयं हमारे देश में क्या हो रहा है? उनके द्वारा हमें कुछ थोड़ा अन्दाज़ तो मिल ही जाता है न, या उन्हें बिलकुल ही न पढ़ना ज़्यादा अच्छा है?

मैंने यह नहीं कहा कि तुम्हें अखबार पढ़ने ही नहीं चाहियें। मैंने कहा था कि तुम जो कुछ पढ़ो उसे आँखें मूँद कर मान न लो। तुम्हें जानना चाहिये कि सच्चाई एकदम अलग है। आशीर्वाद।

४ फ़रवरी १९७०

मधुर माँ,

जब हम अखबार पढ़ते हैं तो घटनाओं की सच्चाई को कैसे जान सकते हैं? संसार के सत्य को जानने का सबसे अच्छा तरीका क्या है?

सबसे अच्छा तरीका है स्वयं अपने अन्दर सत्य को पाना—तब हम ‘सत्य’ को, वह जहाँ कहीं होगा, देख सकेंगे। आशीर्वाद।

५ फ़रवरी १९७०

—‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड १६, पृ. ४५९-७०

भारत का स्वधर्म^१

इस मुहूर्त में, भारत की स्वाधीनता के दूसरे वर्ष में राष्ट्र को बहुत-सी कठिनाइयों के प्रति जागना है, उसके सम्मुख महान् सम्भावनाएँ खुल रही हैं, लेकिन साथ-ही-साथ ऐसे ख़तरों और ऐसी कठिनाइयाँ भी सिर उठा रही हैं कि अगर उनके साथ बुद्धिमानी से नहीं निपटा जाये तो वे भयंकर बन सकती हैं। युद्ध ने सारी दुनिया की हालत अस्त-व्यस्त कर दी है, अब जीवन जोगिम, दुःख-दैन्य और अभावों से भरा हुआ है जो एक दूसरी महाविपत्ति की ओर बढ़ने की धमकी दे रहा है, और यह ख़तरा लोगों के एकजुट प्रयास से ही टल सकता है... स्वयं भारत के सामने सुलझाने के लिए कई गभीर मामले हैं, क्योंकि अगर वह दूसरे देशों की देखा-देखी प्रलोभनों की दिशा अपना ले, तो वह भी कई अन्य देशों की तरह उद्योग और व्यापार में, सामाजिक और राजनीतिक जीवन में विपुल वैभव प्राप्त कर सकता है, उसके पास भी जल-थल सेना का असीम बल हो सकता है, वह भी राजनीति की शक्ति में अपना झण्डा गाड़ सकता है, अपने लाभ और हितों को पाने के लिए घोर परिश्रम कर सम्भवतः संसार के अधिकतम भाग पर शासन भी कर सकता है, लेकिन इस आभासी प्रगति में वह अपने स्वधर्म को भुला कर अपनी अन्तरात्मा को खो बैटेगा। तब शायद प्राचीन भारत और उसका सच्चा स्वभाव पूरी तरह से गायब हो जायें और हम किसी भी अन्य देश की तरह बन जायें, और यह चीज़ न हमारे किसी लाभ की होगी न संसार के। प्रश्न यह है कि क्या भारत बाहरी जीवन में अधिक समृद्ध होकर युगों से सञ्चित अपनी आध्यात्मिक सम्पदा और ज्ञान को खो देना चाहता है? यह तो भाग्य की बहुत बड़ी दुःखान्त विडम्बना होगी कि ठीक उस समय जब बाक़ी सारा जगत् आध्यात्मिक सहायता और रक्षक 'प्रकाश' पाने के लिए अधिकाधिक उसकी ओर चातक की भाँति ताक रहा है वह अपनी इस अमूल्य सम्पदा को त्याग दे! यह नहीं होना चाहिये और निश्चय ही ऐसा होगा भी नहीं; लेकिन यह भी नहीं कहा जा सकता कि ख़तरा नहीं है। सचमुच ऐसी असंख्य और मुश्किल समस्याएँ हैं जिनका भारत सामना कर रहा है या जल्दी ही उसे उनका सामना करना होगा। इसमें कोई शक नहीं कि हम इसमें से विजयी होकर निकलेंगे, लेकिन हमें इस तथ्य को अपने-आपसे छिपाना नहीं चाहिये कि अगर हम भारत की सच्ची नियति को चरितार्थ करना चाहते हैं तो हमें इतने वर्षों की पराधीनता और इसके शिकंजों और इससे आयी दुर्बलता और क्षीणता के प्रभावों से उबरने के लिए एक महान् आन्तरिक, साथ ही बाहरी मुक्ति और परिवर्तन की आवश्यकता है।

दिसम्बर १९४८

श्रीअरविन्द

^१ यह श्रीअरविन्द द्वारा आन्ध्र-यूनिवर्सिटी को दिये गये सन्देश का एक अंश है।

देश-भक्ति की भावनाएँ

माताजी,

आप भारत^१ की राजनीतिक स्थिति को भली-भाँति जानती हैं। क्या मैं आपसे एक प्रश्न पूछ सकता हूँ: हम जो आपके बालक हैं, इस समय हमारी मनोवृत्ति और हमारा कर्तव्य क्या होना चाहिये?

माताजी, मैं जानता हूँ कि हमें चीजों की उनकी बाहरी रूप-रंग से जाँच न करनी चाहिये, पर मैं इस यौगिक स्थिति से बहुत दूर हूँ और मैं आपके पथ-प्रदर्शन के लिए प्रार्थना करता हूँ।

क्या देश-प्रेम के भाव हमारे योग के साथ मेल नहीं खाते?

देश-प्रेम के भाव हमारे योग के साथ असंगत नहीं हैं—बिलकुल नहीं—अपनी मातृभूमि की शक्ति और अखण्डता के लिए संकल्प करना बिलकुल उचित भाव है। यह इच्छा कि वह प्रगति करे, वह अधिकाधिक, पूर्ण स्वाधीनता में, अपनी सत्ता के सत्य में अभिव्यक्त हो, एक सुन्दर और उदात्त इच्छा है जो हमारे योग के लिए हानिकर नहीं हो सकती।

लेकिन तुम्हें उत्तेजित नहीं होना चाहिये, काम में समय से पहले धँस नहीं जाना चाहिये। तुम प्रार्थना कर सकते हो और करनी भी चाहिये, सत्य की विजय के लिए अभीप्सा और संकल्प करो और साथ ही अपने दैनिक कार्य करते चलो और चुपचाप सुस्पष्ट चिह्न की प्रतीक्षा करो जो किये जाने-योग्य कार्य की ओर संकेत दे।

मेरे आशीर्वाद सहित।

२७ अक्तूबर १९६२

—श्रीमाँ

^१ २० अक्तूबर १९६२ को चीन ने भारत की उत्तरी सीमा पर दो स्थानों पर आक्रमण किया। अगले आठ दिनों में चीनी सेनाओं ने कई सैनिक-चौकियों को जीत लिया, लेकिन फिर वापस लौट गयीं।

श्रीअरविन्द अपने विषय में

फिर वही ऊटपटाँग विचार!—कि मैं अतिमानसिक मनोभाव लेकर जन्मा था और मुझे कठोर वास्तविकताओं का कुछ भी पता नहीं! वाह धन्य है! मेरा सारा जीवन ही कठोर वास्तविकताओं से एक संघर्ष रहा है—पहले इंग्लैण्ड के जीवन की तकलीफ़ें और अनाहार, फिर निरन्तर आने वाले संकट और भीषण कठिनाइयाँ और फिर उनसे भी कहीं बढ़ कर यहाँ पॉण्डिचेरी में अन्दर और बाहर से सिर उठाने वाली नित नयी मुसीबतें। मेरा जीवन अपने प्रारम्भिक वर्षों से ही एक युद्ध रहा है और अभी तक युद्ध ही है: इस बात से इसके स्वरूप में कोई अन्तर नहीं पड़ता कि अब मैं इसे ऊपरी मंज़िल के कमरे में बैठा हुआ और आध्यात्मिक एवं अन्यान्य बाहरी साधनों से चला रहा हूँ। निःसन्देह, इन चीज़ों के बारे में चूँकि हम चिल्लाते नहीं रहे हैं, इसलिए मेरी समझ में, दूसरों के लिए यह समझना स्वाभाविक है कि मैं एक प्रतापशाली, सुखमय स्वप्न-लोक में निवास कर रहा हूँ जहाँ जीवन या विश्व-प्रकृति के कठोर सत्य उपस्थित ही नहीं होते। पर फिर भी यह कितना बड़ा भ्रम है!

*

साधना-पथ पर अवसाद, अन्धकार और निराशा के दौरों की एक परम्परा-सी चली आती है। प्रतीत होता है कि ये पूर्वी या पश्चिमी सभी योगों के नियत अंग-से रहे हैं। मैं 'स्वयं' इनके विषय में सब कुछ जानता हूँ, परन्तु अपने अनुभव के द्वारा मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि ये अनावश्यक परम्परा हैं तथा यदि कोई चाहे तो इनसे बच सकता है। यही कारण है कि जब कभी ये तुममें या दूसरों में आते हैं तो मैं उनके सामने श्रद्धा का मन्त्र उद्घोषित करने का यत्न करता हूँ। यदि ये फिर भी आयें तो मनुष्य को उन्हें यथासम्भव शीघ्र-से-शीघ्र पार करके पुनः प्रकाश में वापस आ जाना चाहिये।

९ अप्रैल १९३०

साधना के लिए सबसे बुरी बात है एक ऐसी दूषित मनोदशा में जा गिरना जहाँ मनुष्य सदा निम्नतर शक्तियों एवं आक्रमणों आदि की ही बात सोचता रहता है। यदि साधना कुछ समय के लिए रुक गयी है तो उसे रुका रहने दो, तुम शान्त रहो, साधारण काम-काज में लगे रहो, जब आराम की आवश्यकता हो तो आराम भी करो—जब तक भौतिक चेतना तैयार न हो जाये तब तक प्रतीक्षा करो। मेरी अपनी साधना, जब यह तुम्हारी साधना से बहुत अधिक आगे बढ़ी हुई थी, एक साथ छः-छः महीनों के लिए रुक जाया करती थी। मैं उसके लिए कोई हाय-तौबा नहीं मचाया करता था। बल्कि, जब तक वह रिक्तता या जड़ता का काल निकल न जाता तब तक शान्त बना रहता था।

८ मार्च १९३५

तो तुम सोचते हो कि मुझमें (माताजी को मैं यहाँ अपने साथ सम्मिलित नहीं करता) कभी कोई सन्देह या निराशा हुई ही नहीं, इस प्रकार के कोई आक्रमण हुए ही नहीं। मैंने ऐसा हर आक्रमण झेला है जिसे मनुष्य झेल चुके हैं, अन्यथा मैं किसी को यह आश्वासन न दे सकता कि “इस पर भी विजय पायी जा सकती है”। कम-से-कम मुझे ऐसा कहने का कोई अधिकार न होता। तुम्हारा मनोविज्ञान तो भीषण रूप से कठोर है। मैं फिर कहे देता हूँ कि भगवान् जब पार्थिव प्रकृति का भार अपने ऊपर लेते हैं तो वे इसे जादूगरी की-सी किन्हीं चालाकियों या बहानेबाज़ी के बिना पूरी तरह और सच्चाई से निभाते हैं। यदि कोई ऐसी चीज़ उनके पीछे स्थित होती है जो परदों में से सदा ही प्रकट हो उठती है तो वह सारतः वही वस्तु होती है जो दूसरों के पीछे भी स्थित होती है, भले ही वह उनमें अधिक मात्रा में क्यों न हो—और उस वस्तु को जगाने के लिए ही वे यहाँ भूतल पर विद्यमान होते हैं।

जो लोग आध्यात्मिक मार्ग का अनुसरण करने के लिए अभिप्रेत हैं उन सबके लिए चैत्य पुरुष एक-सी ही क्रिया करता है—उसका अनुसरण करने के लिए मनुष्यों के लिए यह आवश्यक नहीं कि वे असाधारण व्यक्ति हों। तुम यही भूल कर रहे हो—महानता का राग अलापना, मानों केवल महापुरुष ही आध्यात्मिक हो सकते हों।

८ मार्च १९३५

न कोई आनन्द, न बल। पढ़ने-लिखने की इच्छा भी नहीं होती—मानों कोई मुरदा आदमी चल-फिर रहा हो। आप समझ रहे हैं मेरी स्थिति? आपका कोई ऐसा व्यक्तिगत अनुभव?

ख़ूब समझता हूँ; कई बार मेरी भी ऐसी सर्वनाशी स्थिति हुई। इसी कारण, जिनकी यह दशा होती है उन्हें मैं सदा प्रसन्न और प्रफुल्ल रहने की सलाह देता हूँ।

ख़ुश और मस्त रहो, निर्भय-निश्चिन्त, यदि रह सको तो, यह कहते रहो “रोम एक ही दिन में नहीं बना था”—यदि ऐसा नहीं कर सकते तो अँधेरे को भेदते चले जाओ जब तक सूरज न उग आये और नन्हें-नन्हें पक्षी न चहचहाने लगें और सब ठीक-ठाक न हो जाये।

किन्तु दीखता है मानों तुम वैराग्य के प्रशिक्षण में से गुज़र रहे हो। स्वयं मैं वैराग्य की कुछ विशेष परवाह नहीं करता, इस पाशविक वस्तु से मैं सदैव किनारा करता रहा हूँ, पर इसमें से कुछ-कुछ गुज़रना भी पड़ा, जब तक समता पर मेरा पैर नहीं जा जमा और उसी को मैंने अधिक अच्छी युक्ति नहीं समझ लिया। किन्तु समता कठिन है, वैराग्य सरल, पर हाँ, नारकीय उदासी और कष्ट से भरा।

३ जून १९३६

इस प्रकार की अवनति में कोई अनोखी बात नहीं। योगाभ्यास शुरू करने से बहुत पहले मेरे बारे में भी यह प्रसिद्ध था कि इन्हें क्रोध विरले ही आता है। योग की एक विशेष अवस्था में वह मेरे अन्दर ज्वालामुखी की तरह फूट पड़ा और उसे निकालने में मुझे लम्बा समय लगा। मैं एक बीती अवस्था की बात कर रहा था। अवचेतन से उसके उठने के विषय में मुझे पता नहीं, अवश्य ही वह विश्व-प्रकृति से आया होगा।

५ अगस्त १९३६

जहाँ तक श्रद्धा का प्रश्न है, तुमने ऐसे लिखा है कि मानों मुझे कभी कोई सन्देह या कठिनाई हुई ही न हो। तुम्हारा मन जितनी कल्पना कर सकता है उससे कहीं अधिक से मुझे पाला पड़ा है। यह नहीं कि मैंने कठिनाइयों की परवाह ही नहीं की, बल्कि अपने जमाने के या अपने पहले के किसी भी व्यक्ति की अपेक्षा मैंने उन्हें अधिक साफ़ तौर पर देखा है तथा व्यापक रूप में अनुभव किया है और इस प्रकार उनका सामना करने तथा उनकी थाह ले चुकने के कारण ही मुझे अपने काम की सफलता पर पूर्ण विश्वास है। यह सब होते हुए भी यदि मुझे यह सम्भावना दिखती कि सारे प्रयास का परिणाम कुछ नहीं होगा (जो कि असम्भव है) तो भी, मैं विचलित हुए बिना बढ़ता जाता, क्योंकि जो काम करना मेरे लिए ज़रूरी होता उसे मैं अपनी पूरी शक्ति लगा कर करता जाता और इस प्रकार किया हुआ काम विश्व-व्यवस्था में हमेशा अपना स्थान रखता है। परन्तु भला ऐसा लगे ही क्यों, इस सबके व्यर्थ हो जाने का खयाल ही क्यों आये जब कि मुझे एक-एक कदम साफ़ दीख रहा है तथा यह भी दीख रहा है कि वह किधर लिये जा रहा है और प्रत्येक सप्ताह, प्रत्येक दिन—कभी यह प्रत्येक वर्ष और प्रत्येक मास था और आगे चल कर यह प्रत्येक दिन तथा प्रत्येक घड़ी हो जायेगा—मुझे अपने लक्ष्य के इतना अधिक निकट ले जा रहा है? ऊपर के महान् प्रकाश में पथ पर चलते हुए प्रत्येक कठिनाई भी सहायता पहुँचाती है, अपना मूल्य रखती है, और स्वयं रात भी आने वाली ज्योति को अपने अन्दर लिये होती है।

दिसम्बर १९३६

कोई भी ग़लत काम किये बिना सहसा च्युत हो जाना—ऐसा गतिरोध क्यों?

प्रत्येक व्यक्ति च्युत होता है। स्वयं मैं साधना में हज़ारों बार च्युत हुआ हूँ। कैसे कमलदल-सुकुमार रानियों-जैसे साधक हो तुम सब!

२ अप्रैल १९३५

श्रीअरविन्द

१९७२ के दो वार्तालाप

२ अप्रैल १९७२

माताजी की कुछ शिष्यों से हुई बातचीत के कुछ अंश।
पहले चार परिच्छेद वे अंग्रेज़ी में बोली थीं।

मानवजाति ने शताब्दियों और सहस्राब्दियों से इस क्षण की प्रतीक्षा की है। वह आ गया है। पर वह है कठिन।

मैं तुमसे यह नहीं कहती कि हम यहाँ, धरती पर आराम करने या मौज करने के लिए हैं, अभी उसका समय नहीं है। हम यहाँ... नयी सृष्टि का मार्ग तैयार करने के लिए हैं।

शरीर में कुछ कठिनाई है इसलिए, खेद है, मैं सक्रिय नहीं हो सकती। इसका कारण यह नहीं है कि मैं बूढ़ी हूँ—मैं बूढ़ी नहीं हूँ। मैं तुममें से अधिकतर लोगों से ज़्यादा जवान हूँ। अगर मैं यहाँ निष्क्रिय हूँ तो इसका कारण यह है कि शरीर ने अपने-आपको निश्चित रूप से रूपान्तर की तैयारी के लिए दे दिया है। लेकिन चेतना स्पष्ट है और हम यहाँ काम के लिए हैं—आराम और मौज बाद में आयेंगे। चलो, हम अपना काम करें।

मैंने तुम्हें यही कहने के लिए बुलाया है। तुम जो ले सकते हो लो, जो कर सकते हो करो, मेरी सहायता तुम्हारे साथ रहेगी। सभी सच्चे प्रयासों को अधिक-से-अधिक सहायता दी जायेगी।

यह वीर बनने की घड़ी है।

वीरता वह नहीं है जो लोग कहते हैं। यह पूरी तरह एक हो जाने में है—और जो पूरी सच्चाई से वीर होने का निश्चय करेंगे, उन्हें भगवान् की सहायता हमेशा मिलेगी। बस!

तुम इस समय यहाँ, यानी, धरती पर इसलिए हो क्योंकि एक समय तुमने यह चुनाव किया था—अब तुम्हें उसकी याद नहीं है, पर मैं जानती हूँ—इसी कारण तुम यहाँ हो। हाँ, तुम्हें इस कार्य की ऊँचाई तक उठना चाहिये, तुम्हें प्रयास करना चाहिये, तुम्हें सभी कमज़ोरियों और सीमाओं को जीतना चाहिये; और सबसे बढ़ कर तुम्हें अपने अहंकार से कहना चाहिये: “तुम्हारा समय बीत गया।” हम एक ऐसी जाति चाहते हैं जिसमें अहंकार न हो, जिसमें अहंकार की जगह ‘भागवत चेतना’ हो। हम यही चाहते हैं: एक ‘भागवत चेतना’ जो जाति को विकसित होने और अतिमानसिक सत्ता को जन्म लेने दे।

अगर तुम यह समझते हो कि मैं यहाँ इसलिए हूँ क्योंकि मैं बद्ध हूँ तो यह सच नहीं है। मैं बद्ध नहीं हूँ। मैं यहाँ इसलिए हूँ क्योंकि मेरा शरीर रूपान्तर के प्रथम प्रयास के लिए अर्पित है। श्रीअरविन्द ने मुझसे यह कहा था। हाँ, तो मैं इसे कर रही हूँ। मैं नहीं चाहती कि कोई और मेरे लिए यह करे क्योंकि... क्योंकि यह बहुत सुखकर नहीं है। लेकिन मैं इसे खुशी से

कर रही हूँ—परिणामों के लिए; इससे हर एक लाभ उठा सकेगा। मैं केवल एक चीज़ माँगती हूँ : अहं की बात मत सुनो।

अगर तुम्हारे हृदयों से एक सच्ची “हाँ” निकलती है तो तुम मुझे पूरी तरह सन्तुष्ट करोगे। मुझे शब्दों की ज़रूरत नहीं है, मैं चाहती हूँ तुम्हारे हृदयों की सच्ची निष्ठा और लगाव। बस, इतना ही।

१२ अप्रैल १९७२

माताजी शिष्य को एक छपा हुआ कार्ड देती हैं
जिस पर उनके चित्र के साथ यह सन्देश छपा है :

“अन्ततः ‘भागवत’ इच्छा के विरुद्ध कोई मानवीय इच्छा
सफल नहीं हो सकती।

“आओ, हम अपने-आपको जान-बूझकर, ऐकान्तिक रूप से
भगवान् की ओर रखें। अन्त में विजय निश्चित है।”

—श्रीमाँ

आश्चर्य की बात है कि मानव-स्वभाव इसका किस तरह विरोध करता है। साधारण मानव-स्वभाव ऐसा है कि अपनी इच्छा से प्राप्त पराजय दूसरी तरह से प्राप्त विजय की अपेक्षा ज़्यादा पसन्द करता है। मुझे ऐसी चीज़ों का पता लग रहा है... अविश्वसनीय—अविश्वसनीय।

मानव मूढ़ता की गहराई अविश्वसनीय है। अविश्वसनीय।

ऐसा लगता है मानों वह ‘शक्ति’ जिसके बारे में मैंने कहा था^१ इस तरह नीचे जा रही थी (अविचलित अवतरण की मुद्रा), गहरी, और गहरी, अवचेतना की ओर।

अवचेतना में ऐसी चीज़ें हैं... अविश्वसनीय—अविश्वसनीय। मैं यही देखने में रातों-पर-रातें बिता रही हूँ और ‘शक्ति’ नीचे, नीचे अनिवार्य रूप से चलती चली जा रही है।

और तब मानव अवचेतना चिल्ला पड़ती है : “ओह! नहीं, अभी नहीं, अभी नहीं—इतनी जल्दी नहीं!” और इसी के विरुद्ध संघर्ष करना पड़ता है। यह व्यापक अवचेतना है।

और स्वभावतः, प्रतिरोध विभीषिकाओं को लाता है, पर तब व्यक्ति कहता है : “लो देख लो, तुम्हारी क्रिया कितनी लाभदायक है! यह विभीषिकाएँ लाती है।” अविश्वसनीय, अविश्वसनीय मूढ़ता।

तुम्हें... भगवान् को कस कर थामे रहना चाहिये।

क्या तुम्हें दिखायी नहीं देता? क्या यह अपने-आपमें समुचित कारण नहीं है? यह कहती

^१ २९ फ़रवरी १९७२ का अवतरण (“वाञ्छित प्रगति को प्राप्त करने के लिए ज़बरदस्त दबाव”)

है : “देखो, तुम्हीं देखो न, यह तुम्हें कहाँ लिये जा रही है, देख लो।”... ओह! यह... केवल प्रतिरोध ही नहीं है, यह विकृति है।

जी, हाँ।

यह एक विकृति है।

जी, जी हाँ, माताजी, मैं स्पष्ट रूप से देख रहा हूँ, मैं बहुत स्पष्ट रूप से देख रहा हूँ कि यह सचमुच एक विकृति है।

यह एक विकृति है।

लेकिन ऐसा लगता है कि कोई ऐसी चीज़ है जो किसी का हुकुम नहीं मानती।

नहीं, बस, करना... अगर हो सके तो सुनो ही मत, यह ज़्यादा अच्छा है, लेकिन अगर तुम सुनते हो तो तुम्हें सारे समय बस, यही उत्तर देना है : “मैं परवाह नहीं करता, मुझे परवाह नहीं है।” “तुम मूढ़ बन जाओगे”—“मुझे परवाह नहीं।” “तुम अपना सारा काम चौपट कर लोगे”—“मुझे परवाह नहीं”... इस प्रकार की सभी विकृत युक्तियों के लिए तुम्हारा उत्तर होगा : “मुझे परवाह नहीं।”

अगर तुम्हें यह अनुभूति प्राप्त हो सके कि भगवान् ही सब कुछ कर रहे हैं तो तुम एक अटल श्रद्धा के साथ कह सकते हो : “तुम्हारी सारी दलीलों का कोई मूल्य नहीं; भगवान् के साथ होने का आनन्द, भगवान् के बारे में सचेतन होना सबसे बढ़-चढ़ कर है—सृष्टि से बढ़ कर है, जीवन से बढ़ कर है, सुख से बढ़ कर है, सफलता से बढ़ कर है, सबसे बढ़ कर है—(माताजी एक उँगली उठाती हैं) ‘वह’!

तब सब कुछ ठीक रहता है। और बस, समाप्त।

ऐसा लगता है मानों ‘वे’ प्रकृति की बुरी-से-बुरी चीज़ों को प्रकाश में धकेल रहे हैं, प्रकाश में, इस ‘शक्ति’ के साथ सम्पर्क में ज़बरदस्ती ला रहे हैं... ताकि वे समाप्त हो जायें।

और तब ‘वह’ उसके साथ चिपक जाता है जो हमारे अन्दर सद्भावनापूर्ण था।

एक ऐसा क्षण आता है जब सब कुछ बिलकुल अद्भुत होता है, लेकिन तुम्हें ऐसे घण्टों में से गुज़रना पड़ता है जो सुखकर नहीं होते।

जी हाँ, ऐसे अवसर आते हैं जब व्यक्ति अपने-आपसे पूछता है कि क्या सब कुछ बुहार कर फेंक तो नहीं दिया जायेगा।

(माताजी हँसती हैं) यह बेतुका है! बेतुका। यह तो प्रतिरोध है जिसे पूरी तरह बुहार कर फेंका जायेगा।

लेकिन...।

(माताजी अपने भीतर डूब जाती हैं।)

मुझे अधिकाधिक ऐसा लग रहा है कि बस एक ही उपाय है...। (माताजी हँसती हैं) इसका एक मजेदार चित्र बनता है: मन के ऊपर बैठ जाओ। मन के ऊपर बैठ जाओ: “चुप रहो।” यही एक उपाय है।

तुम मन पर बैठ जाओ (माताजी एक टकोर देती हैं): “चुप रहो।”

(मौन)

अवचेतना में पिछले प्रलयों की स्मृति है और यही स्मृति हमेशा यह भाव दिया करती है कि सब कुछ लुप्त हो जायेगा, सब कुछ नष्ट हो जायेगा।

लेकिन अगर सच्चे प्रकाश में देखो तो केवल एक अभिव्यक्ति लुप्त होगी और उससे ज़्यादा सुन्दर अभिव्यक्ति आयेगी। तेओं ने मुझसे कहा था कि यह सातवीं और अन्तिम अभिव्यक्ति है। मैंने तेओं की बात श्रीअरविन्द को बतलायी और श्रीअरविन्द इससे सहमत थे क्योंकि उन्होंने कहा: यही अतिमन की ओर रूपान्तर देखेगी। लेकिन उसके लिए, अतिमन के लिए मन को **नीरव होना होगा!** इससे मुझे हमेशा ऐसा लगता है (हँसते हुए), मानों एक बच्चा मन के सिर पर बैठा खेल रहा है (एक बच्चे के पाँव हिलाने की मुद्रा), मन के सिर पर!... अगर मैं अब भी चित्र आँक सकती तो यह एक मजेदार चीज़ होती। मन—यह मोटा-ताज़ा पार्थिव मन (माताजी गाल फुलाती हैं), जो अपने-आपको इतना महत्त्वपूर्ण और अपरिहार्य समझता है, उसके सिर पर बैठ कर बच्चा खेल रहा है! बहुत मनोरञ्जक है यह।

आह, वत्स, हममें श्रद्धा नहीं है। जैसे ही श्रद्धा होती है... हम कहते हैं: “हम दिव्य जीवन चाहते हैं”—फिर भी हम उससे डरते हैं! लेकिन जैसे ही डर चला जाता है और हम सच्चे होते हैं... सब कुछ सचमुच बदल जाता है।

हम कहते हैं: “हमें यह जीवन अब और नहीं चाहिये” और (हँसते हुए) कोई चीज़ है जो उससे चिपकी रहती है!

कितना हास्यास्पद है यह।

हम अपने पुराने विचारों से चिपके रहते हैं, अपनी पुरानी... इस पुरानी दुनिया से चिपके रहते हैं जिसे गायब हो जाना चाहिये—और हम डरते हैं!

और ‘दिव्य बालक’ मन के सिर पर बैठा खेल रहा है!... काश! मैं यह चित्र बना

पाती। यह अद्भुत है।

हम ऐसे मूढ़ हैं कि यहाँ तक कह बैठते हैं (माताजी खीजी हुई प्रतिष्ठा के लहजे में) :
“यह भगवान् की भूल है, उन्हें ऐसा नहीं करना चाहिये।” यह हास्यास्पद है, वत्स।

(मौन)

मेरी दृष्टि में सबसे अच्छा उपाय (यानी, सबसे सरल) है : पूरी सच्चाई और निष्कपटता के साथ “जैसी ‘तेरी’ इच्छा। जैसी ‘तेरी’ इच्छा।” और तब—तब समझ आती है। तब तुम समझते हो। लेकिन तुम मानसिक रूप में नहीं समझते, वह यहाँ नहीं है (माताजी अपना सिर छूती हैं)।

“जैसी ‘तेरी’ इच्छा।”

—श्रीमातृवाणी, खण्ड ११, पृ. ३२७-३३२

... अगर हम उस सुअवसर का पूरा-पूरा लाभ उठाना चाहते हैं जो जीवन हमें प्रदान करता है, अगर हम उस पुकार का सचमुच प्रत्युत्तर देना चाहते हैं जो हमें दी गयी है और कुछ पग इधर, कुछ क्रदम उधर लेने की बजाय अगर हम अपने लक्ष्य को पाना चाहते हैं तो सम्पूर्ण आत्म-समर्पण अनिवार्य है। योग में सफलता की कुञ्जी ही यह है कि इसे जीवन के विभिन्न लक्ष्यों में से एक नहीं, बल्कि इसे ही सम्पूर्ण जीवन का सर्वोसर्वा मानना।

श्रीअरविन्द

श्रीअरविन्द के उत्तर

(७७)

‘च’ ने मुझे समझाया कि उसका मतलब था कि ‘ड’ स्टेशन जाकर वापस आया, मैं नहीं। लेकिन निस्सन्देह वह अपनी सफ़ाई देने की कोशिश कर रही थी। उसने एक और व्यक्ति के बारे में बतलाया जिसका दिमाग चल गया है, वह है ‘त्र’, और यह निष्कर्ष उसने इस घटना से निकाला कि ‘त्र’ ने ‘स’ के साथ बहुत ऊँची आवाज़ में बातचीत की। मेरी समझ में नहीं आता कि ये लोग ‘ट’ और ‘ड’ के लिए पागल शब्द का प्रयोग क्यों करते हैं। वे ‘ब’ को भी उन्मादी कहा करते थे जब कि, सच पूछा जाये तो वह कई चीज़ें जान-बूझकर किया करता था। या फिर पागल का कोई और अर्थ होता है? किसी और ने भी मुझसे कहा कि लोग सोचते हैं कि मैं भी किसी अर्थ में पागल हूँ। मैं विशेष रूप से कौन-से लक्षण दर्शाता हूँ या मैंने दर्शाये हैं कि लोगों ने मुझे इस पद पर विभूषित कर दिया? मुझे याद है, सूरत में कई लोग मुझे पागल बुलाते थे। लेकिन वहाँ मैंने उन पर अपनी इस तरह की कुछ छाप लगाये रखी थी, हालाँकि वे जानते थे कि पागल होने के लिए मैं बहुत चालाक हूँ।

क्या बकवास है! पागल तो स्वयं ‘च’ लग रही है! अगर ऊँची आवाज़ में बोलना उन्माद का लक्षण है तो आश्रम के आधे से ज्यादा लोग उन्मादी होंगे, उनमें ‘च’ भी सम्मिलित होगी! ‘ड’ कभी इस तरह से स्टेशन नहीं गया। हाँ, लेकिन यह सच है कि दूसरी चीज़ों में उसने कई बार सनकी की तरह व्यवहार किया है, हालाँकि उसका स्वर ऊँचा एकदम नहीं उठता; कोई चीज़ अगर उसके मन में बस जाती थी तो वह उस विचार से जौ-भर भी नहीं हिलता था और यही चीज़ उससे उसकी सनकें पूरी करवाती थी, और इस पर उसका कोई नियन्त्रण नहीं था। हाँ, ‘ट’ में मानसिक विक्षुब्धता थी और वह कुछ समय के लिए अस्थिर और असंगत थी, लेकिन अब वह बेहतर है। जब लोग अजीब या असामान्य चीज़ें करते हैं—चाहे वे जान-बूझकर करें—या असंगत बातें करते हैं तो उन्हें उन्मादी कहा जाता है। मेरे खयाल से तुम्हारे मामले में अतीत की उग्रता के विस्फोट की यादों ने तुम्हें यह ख्याति प्रदान कर दी है!—ठीक उसी तरह जैसे ‘च’ यह स्वाँग भरती है कि ‘त्र’ इसलिए उन्मादी है क्योंकि उसने ‘स’ के साथ ऊँचे सुर में बातें कीं।

कल शाम मैंने ‘च’ को दूसरों के उन्माद के बारे में इधर-उधर बातें करने के लिए एक करारी डाँट पिलायी और ख़ास कर इस सुझाव के लिए उसे फटकारा कि

उसने यह अफ़वाह कैसे फैलायी कि मैं स्टेशन चला गया था और वहाँ से कोई मुझे पकड़ कर लाया। उसे बुरा लगा और वह शाम के ध्यान के लिए नहीं आ पायी, तो मैं उसे शान्त करने के लिए उसके कमरे में गया। सवेरे वह मेरे कमरे में आयी और फूट-फूट कर रोयी, मैंने उसे ढाँढस बँधाया। मैंने देखा कि मुझे उसे डाँटने-फटकारने की कोई ज़रूरत न थी, क्योंकि उसे डाँटना मेरे अधिकार में कतई न था। वह तो क्ररीब-क्ररीब मेरे पैरों पर गिर पड़ी और मैंने देखा कि बात बहुत ही ज्यादा तूल पकड़ रही थी, ख़तरनाक-सी हो रही थी—ज्यादा तो इसलिए कि वह अज्ञान के पैरों पड़ रही थी। बहरहाल, इस सबके लिए उसे दोषी बिलकुल नहीं ठहराया जा सकता; सचमुच मैं हूँ दोषी जो उसके पास चला गया। बाद में मुझे ऐसा लगा मानों मैं केवल उसी से भर गया था और श्रीमाँ कहीं दूर चली गयी थीं।

उसकी इस तरह भर्त्सना करने की कोई ज़रूरत ही नहीं थी, क्योंकि वह जो कहती है उसका कोई मूल्य ही नहीं है। तुम्हें इस बात की सावधानी बरतनी होगी कि इन चीज़ों के परिणाम-स्वरूप उसे अपने बहुत पास मत आने दो—क्योंकि अगर उसका प्राण अधिकार करने की उसकी सहज वृत्ति से दोबारा सक्रिय हो उठे तो तुम्हें और उसे, दोनों को मुश्किल होगी।

१४ मार्च १९३५

ऐसा लगता है कि 'अ' ने कई बार इस बारे में 'म' की आलोचना की है कि वह 'रिसेप्शन हॉल' में आपके चित्र के समीप बैठता है, प्रणाम और ध्यान करता है। उसने 'ट' और 'ल' का उदाहरण दिया जिन्होंने कभी ऐसा नहीं किया। मेरी समझ में नहीं आता कि 'अ' इतना प्रचार क्यों करता है—क्या माँ चाहती हैं कि वह ऐसा करे? क्या सभी बुरे साधक वहाँ बैठ कर ध्यान करते हैं और सर्वोत्तम साधक कभी नहीं करते? क्या ऐसी बात है कि श्रीमाँ 'रिसेप्शन हॉल' में यह नहीं चाहतीं या यह कि ऐसी बाहरी भक्ति बिलकुल नहीं करनी चाहिये? अच्छा, फिर इस हिसाब से तो आश्रम के सभी लोग आप दोनों को प्रणाम करते हैं तो अज्ञेयवादी, आर्य-संघी तथा अधिकांश बाहरी व्यक्तियों के दृष्टिकोण से तो यह मूर्तिपूजा और मानव सत्ताओं की आराधना करना हो जायेगा।

यह 'अ' का अपना विचार है। जिस एकमात्र चीज़ पर माँ ने ज़ोर दिया था वह यह थी कि 'रिसेप्शन हॉल' मुख्य रूप से आगन्तुकों, यानी माँ से मिलने वालों के लिए है और जब ऐसे लोग आयें तो साधकों को वह जगह नहीं घेरनी चाहिये, वहाँ ध्यान या प्रणाम नहीं करना चाहिये। हमारी फ़ोटो के सामने प्रणाम या ध्यान करने की पाबन्दी कभी न थी—बाहरी आराधना की कभी मनाही नहीं थी। बस बात यही है कि उस स्थान को मुख्य रूप से उसके मौलिक उद्देश्य

के लिए ही बनाये रखा जाये। एक समय था जब 'क' ने वहाँ गढ़े जैसी कोई चीज़ बिछा कर उसे अपने लिए पूरा घेर-सा ही लिया था और वहाँ बैठ कर घण्टों ध्यान किया करता था— इसके लिए निश्चय ही आपत्ति उठायी गयी थी। जहाँ तक मूर्तिपूजा की बात है तो वह तभी लागू होती है जब वह मूर्ति या चित्र सच्चे व्यक्ति या देवता को पीछे धकेल देता है—दो-एक ने यह कहा था कि उनके लिए वह फ़ोटो (श्रीमाँ की फ़ोटो) ही स्वयं माँ थीं (जीवित व्यक्ति से ज़्यादा जीवन्त)। इन सब चीज़ों की अति वातावरण में छाती जा रही थी, इसीलिए माँ को लोगों को उनके दायरे में रहने की याद दिलानी पड़ी। बस यही बात है। लेकिन अपने मूल तत्त्व में मूर्तिपूजा की मनाही बिलकुल नहीं है।

जब कोई किसी के साथ घनिष्ठ रूप में पूरे प्राणिक आदान-प्रदान के साथ सम्पर्क में आता है तो क्या इसका यह अर्थ है कि एक का प्राण दूसरे के प्राण से सराबोर हो जाता है? यह चीज़ व्यक्ति को एक अजीब तरह की आत्म-सन्तुष्टि देती है, जैसे कि मैंने कल 'च' के साथ सम्पर्क के बाद अनुभव की थी, लेकिन बाद में मुझे ऐसा अनुभव हुआ मानों मैं माँ से बहुत दूर चला गया होऊँ और मैंने उनके पास जाने की ज़रूरत भी नहीं महसूस की। निस्सन्देह, इसका यह अर्थ नहीं है कि सामान्यतया मैं आन्तरिक रूप से माँ के समीप रहता हूँ, लेकिन अब मैं कुछ बेहतर हो रहा हूँ, और कल तो वह भेद एकदम दिखायी दे रहा था। जब मैं 'व' के सम्पर्क में आता हूँ तो यही समान चीज़ घटती है, भले वह मेरे प्राण को अधिक प्रबल रूप से घेरे रखे, लेकिन मैं अपने-आपको नियन्त्रण में रखता हूँ। 'ज', जिससे मैंने यह शब्दावली सीखी है, यह देखा कि लोग बहुतायत में अपना प्राण मुझ पर थोपते हैं। लेकिन, अगर मैं इन सब प्राणिक चीज़ों को समतल रूप से देखूँ तो पाता हूँ कि ये न तो सुखद हैं न ही लाभकारी।

यह चीज़ अस्थायी सुख देती है, लेकिन वह सुख रहता नहीं है और निश्चित रूप से, यह लाभकारी तो बिलकुल नहीं है। कुछ समय के बाद यह प्राणिक आदान-प्रदान और सुखद नहीं रहता, स्वयं ही थक जाता है और कहीं और मुड़ जाता है। निस्सन्देह, आध्यात्मिक लक्ष्य के लिए यह बहुत बड़ी बाधा है।

१५ मार्च १९३५

मेरी समझ में नहीं आता कि शान्ति और विचार की स्पष्टता की यह अवस्था हमेशा क्यों नहीं बनी रहती। शायद कोई अनावश्यक क्रिया और सम्पर्क धुँधलका ले आता है, यहाँ तक कि मन में विक्षुब्धता भी पैदा कर देता है। लेकिन आज की अनुभूति अधिक तीव्र थी—शान्ति गहरी थी और अधिक मस्तिष्क में थी। स्पष्ट

रूप से मैंने देखा कि कुछ ऐसी गतियाँ, जिन्हें मैं तेज़ी से, असावधानीपूर्वक या जान-बूझकर करता हूँ, वे शान्ति की इस अवस्था में उस तरह की ही नहीं जा सकतीं। उदाहरण के लिए, मेरे अन्दर 'न' से बातें करने की अजीब-सी इच्छा जागी। मैंने पाया कि उसने मुझे कामुक-भावना की नज़रों से देखा, जैसा उसने पहले नहीं किया था, लेकिन कुछ प्रयत्न करके मैंने अपने-आप पर क़ाबू पा लिया। इसी तरह 'च' और 'प' से बातचीत करने के आवेग का भी मैंने पीछा नहीं किया। शान्ति की इस अवस्था में ये सारी चीज़ें करना असम्भव हो गया है। व्यक्ति अचञ्चल शान्ति में निवास करने लगता है और ग़लत क्रियाओं का रेलगाड़ी रुक जाता है। प्रश्न यह है कि शान्ति को बनाये रखा जाये या व्यर्थ और ग़लत गतियों और क्रियाओं को रोका जाये जो अपने साथ दूसरी चीज़ें ले आती हैं—और यहाँ मैं कभी-कभी बुरी तरह से असफल हो जाता हूँ।

जब तक शान्ति तथा स्पष्टता सत्ता पर अपनी पकड़ न बना लें तब तक इन्हें उतरते देते रहना ही सर्वोत्तम तरीक़ा है। मस्तिष्क में इस चीज़ का अनुभव यह दर्शाता है कि यह शान्ति सबसे अधिक जड़-भौतिक में प्रवेश कर रही है।

जब 'प' मुझे रास्ते में मिली तो बड़ा अजीब-सा संवेदन हुआ। मुझे लगा मानों वह या उसका वातावरण मुझे घृणा के साथ धकिया रहे हैं। अभी उस रोज़ वह कह रही थी कि कुछ समय के लिए 'ब' के पास जाने की उसकी इच्छा हो रही है। या तो यह बात है, या फिर उसके अन्दर मेरे लिए घृणा का भाव पैदा हो गया है—वैसे उसने कभी इस चीज़ का ज़िक्र नहीं किया।

मुझे नहीं लगता कि वह घृणा अनुभव कर रही है—शायद उसके अन्दर की किसी ऐसी चीज़ से तुम पीछे हट गये जो तुम्हें दुर्भावना-जैसी लगी—यानी, जो सामञ्जस्य के बाहर थी।

क्या प्राण प्राणिक आदान-प्रदान से सचमुच थक गया है? यह तो ऐसा है मानों जब वह थक जाये तो एक प्रकार को छोड़ कर, दूसरे प्रकार की ओर बढ़ जाये। सामान्य जीवन में स्वयं जीवन ही प्राणिक विनिमय है, हालाँकि व्यक्ति असामञ्जस्य इत्यादि के द्वारा जीवन से थक सकता है। लेकिन यहाँ यह ज़्यादा अच्छा होगा कि प्राण जल्दी ही थक जाये। कभी-कभी मैं यह देख कर थक जाता हूँ कि प्राण थक नहीं रहा है।

मेरा मतलब था, उस अमुक आदान-प्रदान से थक जाना—जैसा कि मैंने कहा, प्राण और किसी

की ओर झुक जाता है। अन्त में वह सभी विनिमयों से क्लान्त हो जाता है और इसे ही वैराग्य कहते हैं, यानी—प्राण अपनी सामान्य गतिविधियों तथा क्रियाओं से थक जाता, श्रान्त हो जाता है। १६ मार्च १९३५

जब 'ब' और दूसरे 'स' के यहाँ उसका उपचार कर रहे थे तो 'ज' वहाँ उपस्थित था। 'ब' ने 'ज' को 'स' के सिर पर हाथ रखते हुए देखा, कुछ समय तक उसने वैसे ही अपना हाथ रखे रखा। बाद में 'ब' ने उससे कहा कि उसे "अपनी शक्तियों" का इस तरह प्रयोग नहीं करना चाहिये। 'ज' को बुरा लगा और अर्ध-उत्तेजना-भरी हालत में मेरे पास आकर उसने मुझे यह सब सुनाया। मैंने उससे कहा कि स्वाभाविक है कि 'ब' ऐसा ही कहेगा, क्योंकि उसने ज़रूर सुना होगा कि 'ज' ने अपने नौकर के उपचार के लिए अपनी शक्ति का प्रयोग करने की चेष्टा की थी। दूसरी ओर, मैंने उससे कहा था कि अगर ज़रूरत पड़े तो उसके अन्दर से कोई चीज़ स्वभावतः प्रवाहित होकर दूसरे के अन्दर जा सकती है, और अगर किसी के अन्दर उपचार करने की शक्ति हो तो ऐसे समयों में वह अपनी शक्ति का प्रयोग कर सकता है। हाँ, यह बात भी निश्चित है कि ऐसा कुछ करने के लिए 'ज' कोई भी मौक़ा हाथ से चूकने देना नहीं चाहता और उसके तनाव और अर्ध-उत्तेजना को देख कर लगता है मानों वह अहंकार के साथ यह सब कर रहा हो। लेकिन ऐसा तो उन अधिकतर लोगों के साथ होगा जिनके अन्दर इन शक्तियों को ग्रहण और उपयोग करने की शक्ति है।

लेकिन 'ज' का कहना है कि उसने 'स' के यहाँ चुपचाप खड़े रहने के सिवाय और कुछ नहीं किया। शक्ति के प्रयोग की जहाँ तक बात है, अगर उसमें उसका कोई स्वार्थ नहीं है तो ठीक है, हाँ, 'स' जैसे मामले में उसका प्रयोग करना ख़तरनाक हो सकता है—क्योंकि उसके अन्दर ऐसी प्रतिक्रियाएँ उठ सकती हैं जिनका प्रयोगकर्ता को कोई ज्ञान ही न हो। ऐसे मामलों में कोई भी परीक्षण या प्रयोग करने के पहले व्यक्ति के अन्दर पर्याप्त और यथार्थ ज्ञान होना चाहिये।

आज एक भी कार्यकर्ता नहीं था, और मैंने किसी भी कुली को लेने का आग्रह नहीं किया। मैंने सोचा कि मुझे एक दिन बिना काम किये रहने की कोशिश करनी चाहिये, तो मैंने Book of Knowledge से लिओनार्दो द विंची की जीवनी के कुछ अंश पढ़े... एक घण्टे की नींद निकाली, और तमस् में डूबा रहा, और दिन तमाम हो गया। बिना काम के दिन बिताना उतना मुश्किल नहीं है जितना कि मैंने सोचा था। व्यक्ति शान्ति में और मानसिक गतिविधि में रह सकता है, या फिर उसके अन्दर शान्ति और नीरसता का मिश्रण भी हो सकता है। लेकिन निस्सन्देह, जब

वह शान्ति या नीरवता में रहने की कोशिश करता है तो शान्ति का ही एक तरह का तनाव उसमें उठ सकता है। लेकिन अगर काम में ही सारे समय नीरवता और शान्ति पायी जा सकें तो बाहरी रूप से बन्द होने की क्या आवश्यकता है भला?

अगर नीरवता और शान्ति इतने पर्याप्त रूप में प्रबल हों कि वे किसी भी ऐसी चीज़ को निकाल बाहर फेंक दें जो उस नींव में खलल डाले जिसे वे उच्चतर चेतना में जाने के लिए बनाते हैं, तो बाहरी रूप से बन्द होने की कोई आवश्यकता नहीं है। लेकिन, चीज़ों के बारे में आन्तरिक विवेक की आवश्यकता तो फिर भी बनी रहेगी, लेकिन वह विवेक अन्तःप्रेरणात्मक ज्ञान (अधि-बौद्धिक) के साथ-साथ आ ही जाता है। फिर भी इन चीज़ों के वर्धित होने में पर्याप्त मात्रा में समय तो लगता ही है।

१७ मार्च १९३५

कल 'ज' ने 'स' पर क्रिया करने की ज़रूर कोशिश की। उसने जो मुझसे कहा कि उसने 'स' के सिर पर अपना हाथ रखा, तो मैं तो यही मानता हूँ कि उसकी यह आदत बहुत आपत्तिजनक है। वह तो फ़ौरन लोगों को "आशीर्वाद" देने पर उतारू हो जाता है। उसने खुद मुझसे एक बार कहा था कि कभी-कभी उसे लगता है कि वह सभी को "आशीर्वाद" दे दे, यानी, वह सबका गुरु बन जाये।

यह करने-लायक चीज़ नहीं है।

'ज' ने कहा कि वह तभी 'प' के यहाँ से आया था, यानी 'प' ने उसके अन्दर 'स' पर क्रिया करने के लिए सभी सम्भव शक्ति डाल दी थी।

जहाँ तक मुझे मालूम है, 'प' कभी भी किसी के भी ऊपर क्रिया नहीं करता।

'ज' ने कहा कि इस तरह कोई किसी के अन्दर शान्ति डाल सकता है। किस हिसाब से वह शान्ति उतार रहा था जब वह खुद उत्तेजना में दौड़ता-भागता रहता है? अगर उसने आपको यह लिखा कि उसने कुछ नहीं किया, तो या तो वह अपने-आपको छल रहा है या उसने जो कुछ किया उसे बड़े आराम से भूल जाने की उसकी आदत है—यह या तो अचेतना है या फिर कपट। मैंने, निस्सन्देह, पहले यही सोचा था कि सम्भव है कि श्रीमाँ की शक्ति ने उसके द्वारा क्रिया की हो।

माँ को तो उसके वहाँ जाने की बात तक पता न थी। ऐसे मामलों में वे सीधा अपनी शक्ति का

प्रयोग करती हैं या फिर ऐसे लोगों की मदद के लिए वे चिकित्सकों में अपनी शक्ति डालेंगी।

जब मैं 'च' या 'व' के पास से गुज़रता हूँ तो देखता हूँ कि तुरन्त मेरे विचार उनकी ओर जाने लगते हैं। मैं उनसे कतराने या उनके विरुद्ध कुछ सोचने की कोशिश करने लगता हूँ ताकि वे मुझे आकर्षित न करें। लेकिन क्या है यह सब? इतनी छोटी-सी बात पर इतना प्रयास और इतनी ऊहापोह क्यों भला? यह तो उस कहानी की तरह है जिसमें शिष्य से कहा जाता है कि वह बन्दरों के बारे में न सोचे और बस वे ही विचार उसके मन में मँडराते-फिरते हैं!

मेरे ख़याल से अतीत में तुम्हें ख़तरे का जो अनुभव हुआ था उसी के परिणाम-स्वरूप मन की यह यान्त्रिक रक्षात्मक क्रिया थी। इस तरह की सभी क्रियाओं की तरह इसमें भी यह असुविधा है कि सम्बद्ध व्यक्तियों या चीज़ों के साथ यह सक्रिय हो उठती है। तनाव के बिना, प्रयासहीन क्रिया उत्तम तरीक़ा है, लेकिन यह करना हमेशा सम्भव नहीं होता।

मैंने देखा है कि मन की रक्षात्मक क्रिया (उन लोगों के बारे में सक्रिय रूप से सोचना शुरू करने के बाद) कल्पना की प्राणिक क्रिया में, फिर कामुक-कल्पना और उसके बाद कामुक-संवेदना इत्यादि में गिर जाती है। यह तो 'स्केटिंग-रिंग' के चक्कर में घुस जाने जैसा है, एक बार उसमें चले जाओ तो उसके घेरे से बाहर निकलना ही सम्भव नहीं होता। निस्सन्देह, इन निम्नतर क्रियाओं पर सोचते ही रहना कोई स्वस्थ क्रिया नहीं है, लेकिन फिर इनसे ख़ुद को अलग करना भी तो उतना ही मुश्किल होता है।

यह निश्चय ही स्वस्थ क्रिया नहीं है—क्योंकि तब स्पष्ट रूप से वह रक्षात्मक नहीं रहती। अगर तुम मानसिक तरीक़ा अपनाओ तो यह मुश्किल उठती है। जब तुम किसी तरह की 'शक्ति' उतार सको और अपने चारों ओर उसका एक घेरा बना सको या आवश्यकता पड़ने पर उसका उपयोग कर सको तो सामान्यतः वह अधिक प्रभावी होती है। या फिर मानसिक गतिविधि को चिन्तनशील क्रिया की बजाय अधिक शुद्ध इच्छा-शक्ति की क्रिया होना चाहिये—जो एक अनिवार्य आदेश की भाँति क्रिया करे, असंगत रूप से केवल पात्र के बारे में चिन्तन न करती रहे।

१८ मार्च १९३५

मेरे प्राण का विकार तब से शुरू हो गया जब से मैं किसी न किसी बहाने स्त्रियों के साथ सम्पर्क साधने की इच्छा करने लगा। चाहे वह 'च' की सहायता करना हो या 'व' के साथ चित्रकारी और कशीदाकारी के बारे में चर्चा करना हो, बातें करना

तो केवल एक बाहरी सहारा था (हालाँकि वह परिष्कृत दीखता था), सचमुच भौतिक सम्पर्क पाने के लिए यह प्राण की अधिक गहरी लालसा थी। यह प्राण की बहुत ही प्रकट या यह कहूँ कि खुल्लम-खुल्ला चाल है, लेकिन मेरी स्वीकृति के बिना वह उसे चल नहीं सकता था। यह केन्द्रीय स्वीकृति ही मेरे अन्दर के विकार का मुख्य कारण है और इससे बाहर निकलने के लिए अब मुझे पहले से कहीं अधिक प्रयास करना होगा—मेरी साधना के प्रारम्भिक वर्षों में मेरी हालत इससे कहीं बेहतर थी।

ज्यादा बड़ी मुश्किल यह है कि अब तुम्हारी साधना भौतिक स्तर पर चल रही है जहाँ एक बार बन गयी आदत या किसी भी अभ्यासगत गति की शक्ति बहुत ज्यादा होती है। जब साधना मानसिक या प्राणिक स्तर पर चलती है तब संयम करना या बदलना अधिक आसान होता है, क्योंकि मन और प्राण शरीर से ज्यादा नमनीय होते हैं। लेकिन दूसरी ओर, अगर भौतिक स्तर पर किसी चीज़ पर निश्चित रूप से विजय पा ली जाये तो केवल मन या प्राण पर विजय पाने की अपेक्षा वह उपलब्धि अधिक स्थायी और सम्पूर्ण होती है।

सवरे ११ बजे मैंने सूर्य के चारों ओर एक बड़ा प्रभामण्डल देखा। मैंने वह 'स' को दिखलाया जिसने इसके पहले सूरज के चारों ओर इतना बड़ा गोला कभी न देखा था। 'त्र' ने कहा कि बंगाल में एक लोकोक्ति है कि अगर ऐसा दीखे तो इसका अर्थ है कि देवता किसी महत्त्वपूर्ण विषय पर परामर्श कर रहे हैं। शायद 'द्वादशाः आदित्याः', —बारह सूर्यों का गोल-मेज़ सम्मेलन चल रहा हो?

चलो, हम आशा करें कि इस बार उन्होंने कोई गम्भीर और निर्णायक कदम उठाने का निश्चय किया है—और यह कि वे इस उलझन-भरे और अन्धकारपूर्ण संसार में थोड़ा-सा प्रकाश उँडेल दें।
१९ मार्च १९३५

मैं 'स' और 'र' से मिलने गया क्योंकि पिछली रात मैं उनके लिए बरफ़ ले आया था, मैं इसलिए गया क्योंकि 'न' को कोई और बरफ़ लाने के लिए नहीं मिला। उन्होंने मुझसे कहा कि उनके ऊपर वह विरोधी शक्ति का प्रहार था, मस्तिष्कीय रक्तसंकुलता नहीं थी। 'न' ने कहा कि उम्र के साथ-साथ धमनियों में रुकावट की वजह से ही मस्तिष्कीय रक्तसंकुलता हो गयी।

यह चिकित्सकीय दृष्टिकोण है। 'स' का कहना कि उसे न कभी चक्कर आये न ही उसने कभी किसी भी तरह के संकुलन या दबाव का अनुभव किया—हाँ, उसे पता चल गया था कि उसका गला बैठ गया है, लेकिन उसे चक्कर नहीं आये।

जब से 'त्र' ने मुझसे यह कह दिया कि उसने भी सुना कि 'प' पिछले जन्म में रामकृष्ण परमहंस था तब से अजीब-सी चीज़ मेरे अन्दर घट रही है। इसके पहले 'ड' ने मुझसे इसी आशय की बात कही थी और 'त्र' के इस कथन ने उसकी पुष्टि कर दी। जब से मैंने यह सुना, मैं 'प' को 'प' के रूप में नहीं देख पा रहा हूँ। जब कभी वह मुझसे मिलता है मैं उसके अन्दर परमहंस का अनुभव करता हूँ, पता नहीं इसकी वजह मेरी कल्पना है या फिर कुछ और—खासकर १९२३ और १९२९ के बीच के काल में मैं करीब-करीब उसकी पूजा किया करता था।

कोई सम्बन्ध तो था। एक समय 'प' बहुत कुछ रामकृष्ण की तरह दीखने लगा था और उसे सार्थक सपने भी आने लगे थे, हालाँकि उसे रामकृष्ण के जीवन के ब्योरों के बारे में बिलकुल कुछ भी पता न था। लेकिन पूर्वजन्मों को बहुत महत्त्व नहीं देना चाहिये। क्योंकि इस योग का उद्देश्य है कि व्यक्ति जो है वह है, और इससे भी अधिक, कि वह क्या बन सकता है। वह क्या था इसका अधिक महत्त्व नहीं है।

कल रात सपने में मैंने एक बिच्छू देखा—यह 'स' के साथ हुई बातचीत की वजह से हुआ, उसने मुझसे कहा था कि *Nouveauté House* की पुरानी दीवारों से बहुत-से बिच्छू निकल रहे हैं। बिच्छू की पूँछ बदल कर बड़ी हो गयी और अन्त में दो छोटे कनखजूरों जैसे साँपों में बदल गयी। बाद में मैंने कई छोटे-छोटे साँप देखे। हम एक बड़ी-सी लाठी लेने भागे, लेकिन फिर हमने सोचा कि अगर एक-दो भी एक प्रहार से मर गये तो बाक़ी हम पर टूट पड़ेंगे। हमने वह विचार छोड़ कर कोई और तरीक़ा अपनाने की बात सोची। और तभी मैं जग गया।

स्पष्ट ही यह विरोधी शक्ति का प्रतीक था जो अपनी "पूँछ" से अन्य छोटी-छोटी कठिनाइयों को उपजाती है, ताकि भले पूँछ नष्ट हो जाये लेकिन ये कठिनाइयाँ बनी रहें।

२० मार्च १९३५

आज सवेरे उठते ही मुझे चक्कर आने लगे। मैं बैठ गया, दोबारा लेट गया; दो-तीन बार ऐसा करने के बाद मैं विश्वास के साथ चल सका। बाद में कुछ समय तक यह चीज़ कमज़ोरी के रूप में बनी रही। सारे दिन मैं अकेलेपन का अनुभव कर रहा था, हालाँकि सभी मुझसे बातचीत कर रहे थे, मुस्कुरा रहे थे। मुझे लग रहा था मानों कुछ छूटा जा रहा है और किसी चीज़ का अभाव है। साधना और बाक़ी सब कुछ कितनी दूर जान पड़ रहा था। इस पर तुरा यह कि शाम को मैं 'र' और 'स' के यहाँ मिनट-भर के लिए चला गया, नीचे उतरते समय 'च' ने मुझसे बातें

कीं। मैं उसके कमरे में गया, उसने मुझे अपने फ्रेंच के अभ्यास दिखलाये, 'ल' उसे फ्रेंच पढ़ाता है। सारे समय मैं उसका स्पर्श करता रहा। लौटने के बाद मैंने पाया कि मेरा समूचा प्राण उन मुसलमानों के होठों जैसा लाल हो गया जो सारे दिन पान चबाते रहते और हर एक औरत को घूरते रहते हैं। कपट पूरी तरह से खुल खेल रहा था—नियम, कानून, सभी पल-भर में चकनाचूर हो गये और निम्न आवेगों ने मुझ पर अपना शिकंजा कस दिया।

बड़ी शोचनीय बात है कि तुम 'च' को इस तरह स्वयं को आकर्षित करने की अनुमति देते हो। प्रत्यक्ष रूप से शान्ति तुम्हारे अन्दर उतरने के लिए दबाव डाल रही है—भौतिक चेतना की ये आसक्तियाँ और ये प्रतिरोध ही रास्ते में बाधा बन कर खड़े हो जाते हैं। शायद यही प्रतिरोध अकेलेपन के अनुभव और चक्करोँ का कारण हो।

२१ मार्च १९३५

—श्रीअरविन्द